'उपनिषद्, पुराण, नारद पञ्चरात्र आदि प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों की उपेक्षापूर्वक की गयी भगवद्भक्ति समाज में व्यर्थ उत्पातकारी ही सिद्ध होती है।'

ब्रह्मवेत्ता निर्विशेषवादी अथवा परमात्मतत्त्वज्ञ योगी भगवान् श्रीकृष्ण के यशोदा-नन्दन अथवा पार्थसारथि रूप को नहीं जान सकते। मनुष्यों की तो बात ही क्या, महिमामय देवता भी कदाचित् श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में मोहित हो जाते हैं। **मुह्यन्ति यत्सूरयः, मां तु वेद न कश्चन,** स्वयं श्रीभगवान् का कहना है कि उन्हें तत्त्व से कोई भी नहीं जानता। यदि कोई उनके तत्त्व में निष्णात हो तो, **स महात्मा सुदुर्लभः,** 'ऐसा महात्मा परम दुर्लभ है।' इस प्रकार भगवद्भक्ति की आश्रयता ग्रहण किये बिना उच्च विद्वान् अथवा दार्शनिक तक को श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु भक्तों के लिए श्रीकृष्ण नित्य अनुग्रहशील हैं। एकमात्र शुद्ध भक्त ही उनके सर्वकारणकारणत्व, सर्वशक्तित्व, श्री, यश, वीर्य, सौन्दर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादि अचिन्त्य चिन्मय गुणों को यत्किंचित् जानते हैं। श्रीकृष्ण ब्रह्मतत्त्व की पराकाष्ठा हैं। अतएव उनका तत्त्वज्ञान एकमात्र भक्तों को हो सकता है। शास्त्रवचन है:

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः।।

'कुण्ठित प्राकृत इन्द्रियों से श्रीकृष्ण का तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। भक्तों द्वारा समर्पित भक्ति से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण स्वयं उनके हृदय में अपना तत्त्व प्रकाशित करते हैं।' (पद्मपुराण)

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

भूमिः =पृथ्वी; **आपः** =जल; **अनलः** =अग्नि; **वायुः** =पवन; **खम्** =आकाश; **मनः** =चित्त; **बुद्धिः** =प्रज्ञा; **एव** =निःसन्देह; **च** =तथा; **अहंकारः** =मिथ्या अभिमान; **इति** =इस प्रकार; **इयम्** =यह; **मे** =मेरी; **भिन्ना** =विभाजित; **प्रकृतिः** =प्रकृति है; **अष्टधा** =आठ प्रकार से।

अनुवाद

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार, ऐसे यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी भिन्ना (अपरा) प्रकृति है।।४।।

तात्पर्य

भगवत्-विद्या श्रीभगवान् के स्वरूप और विविध शक्तियों का तात्त्विक विश्लेषण करती है। भौतिक शक्ति को प्रकृति अथवा श्रीभगवान् के विभिन्न पुरुष-अवतारों की शक्ति कहा जाता है, जैसा कि 'सात्वततन्त्र' में उल्लेख है—

विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः।
एकन्तु महतः स्त्रष्ट्र द्वितीयं त्वण्डसंस्थितम्।
तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते।